Gurukul International Multidisciplinary Research Journal (GIMRJ)*with* International Impact Factor 8.249
Peer Reviewed Journal
https://doi.org/10.69758/GIMRJ/2411IV05V12P0007

e-ISSN No. 2394-8426
Special Issue On CPDE Nov'2024
Issue–III(V), Volume–XII

भारत में शिक्षा की स्थिति

डॉ. योगेश्वर प्रसाद बघेल
अतिथि ब्याख्याता (प्राध्यापक)
विभागाध्यक्ष राजनीति विज्ञान
शासकीय वेदराम महाविद्यालय मालखरौदा जिला सक्ती(छ.ग.)

सारांश :— दुनिया में भारत पहला देश है, जहॉ शिक्षा राजनीति का शिकार है। कभी प्रबंध तंत्र के स्तर पर, कभी शिक्षक के स्तर पर कभी छात्र के स्तर पर और कभी दोनो स्तरों पर। भारत में शिक्षा के कई स्तर हैं। एक,दो, तीन और ज्यादे भी। यहॉ सरकार की नीति का ही परिणाम है। जब संसथाओं की निर्मिति ही विभाजन के आधार पर हो, तो शिक्षा का भविष्य ?

लोकतांत्रिक शिक्षा के लिए जरूरी है कि विश्वविद्यालय से लेकर स्कूल स्तर तक शिक्षा का समूचा तंत्र लोकतांत्रिक, पारदर्शी और जनशिरकत वाला बनाया जाय। शिक्षा में शामिल लोगों की व्यक्तिगत, सामुहिक और सामाजिक जवाबदेही तय की जाय। आज स्थिति इतनी भयानक है कि सरेआम संविधान प्रदत्त अधिकारीं और मूल्यों को चुनौती दी जा रही है और शिक्षितों में से उसका प्रतिवाद नजर नहीं आ रहा , बल्कि उल्टे शिक्षितों का बड़ा समुह हमले कर रहा है।

लोकतांत्रिक शिक्षा का लक्ष्य है आलोचनात्मक विवेक पैदा करना। जबकि उपभोक्ता केन्द्रित मौजूदा शिक्षा का लक्ष्य है सर्वसत्तावादी विवेक पैदा करना। इसलिए मौजूदा मॉडल को अंदर और बाहर हर स्तर पर आलोचना के केन्द्र में रखने की जरूरत है। लोकतांत्रिक शिक्षा का परिवेश सामाजिक बहस के नये मुद्दों को जन्म दे सकता है, लोकतंत्र में पॉजेटिव भूमिका निभाने का माहौल बना सकता है। शिक्षकों की पॉजेटिव इमेज बना सकता है और छात्र को नागरिक बना सकता है।

लोकतांत्रिक अध्यापक — लोकतांत्रिक शिक्षा के लिए लोकतांत्रिक परिपेक्ष्य, लोकतांत्रिक अकादमिक परिवेश और लोकतांत्रिक शिक्षक का होना जरूरी है। लोकतांत्रिक शिक्षक के बिना लोकतांत्रिक छात्र का निर्माण संभव नहीं है। शिक्षा को बदलने के लिए जरूरी है कि शिक्षकों के नजरिए, संस्कार, आदतें आदि को लोकतांत्रिक बनाया जाए, शिक्षक अपना कायाकल्प करें। लोकतंत्र की धारणा को स्पष्ट तौर पर समझें, लोकतंत्र का मतलब अ—राजनीतिक तंत्र नहीं है, वोट देना मात्र नहीं है, लोकतांत्रिक समाज का मतलब अ—राजनीतिक समाज नहीं है। लोकतंत्र का मतलब है राजनीतिक समाज, ऐसा समाज जिसमें समाज के सभी वर्गों और समुदायों के विकास, मूल्य, आचार ब्यवहार आदि को लोकतंत्र और लोकतांत्रिक मूल्यों की कसौटी पर परखा जाय जो मूल्य खरे

उतरें उन्हे बचाएँ और जो अप्रासंगिक है उनको ठुकराएँ। समानता, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय और समाजवाद इसके भावी लक्ष्य हैं जिनकों प्राप्त करना है। आज हमारे बीच में इस तरह के लोग हैं जो शिक्षा के लोकतांत्रिकीकरण का खुलकर विरोध करते हैं और कहते हैं कि शिक्षा को राजनीति से मुक्त रखो। इस तरह के लोगों से यही कहना है कि लोकतंत्र में रहना है तो राजनीतिक होकर रहना होगा। राजनीति के बिना लोकतंत्र संभव नहीं है। लोकतांत्रिक राजनीतिक शिरकत और लोकतांत्रिक राजनीतिकबोध के बिना संवैधानिक मान्यताओं और मूल्यों की रक्षा करना संभव नहीं है। देश में राजनीतिकदलों और संसद से उपर है संविधान और उसकी मान्यताएँ, हमें किसी भी कीमत पर संविधान कें दर्जे को कम नहीं होने देना चाहिए । आज विभिन्न तरीकों से संविधान प्रदत्त मूल्यों और हकों पर हमले हो रहे हैं इन हमलों के खिलाफ आम जनता के साथ शिक्षित समुदाय को मिलकर संघर्ष करने की जरूरत है। आने वाले समय में मोदी सरकार नई शिक्षा नीति लाने जा रही है, इस सरकार के रंग–ढंग को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ये लोग किस रास्ते देश की शिक्षा व्यवस्था को ले जाना चाहते हैं। यही वजह है हमें अभी से शिक्षा जगत में विभिन्न स्तरों पर आने वाली शिक्षा नीति के बारे में सचेत होकर जागरण अभियान चलाने की जरूरत है। अब तक के शिक्षा के अनुभवों को शेयर करने की जरूरत है, नए हमलों को विस्तार से अकादमिक जगत को बताने की जरूरत है,क्योकि यह वर्ग सम–सामयिक यथार्थ से पूरी तरह विच्छिन्न है और उसे सम–सामयिक यथार्थ के लोकतांत्रिक परिप्रेक्ष्य के साथ जोड़ने की जरूरत है।

शिक्षा के मौजूदा ढॉचे पर बातें करते समय एक पहलू हैं सरकारी नीति का, दूसरा पहलू है शिक्षक की अवधारणा का और तीसरा पहलू है छात्र के स्वरूप का। भारत में लोकतंत्र है और लोकतंत्र के बहुमुखी विकास में मदद करना हमारी शिक्षा प्रणाली का बुनियादी लक्ष्य होना चाहिए । इसके लिए जरूरी है कि हम लोकतंत्र की समझ बेहतर और गंभीरता से जाने, छात्रों में अध्ययन और श्रम के प्रति गहन रूचि पैदा करने की उसमें क्षमता हो। वह पढ़ाई के अत्याधुनिक तरीकों से वाकिफ हो अपने काम की जगह स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखना सिखाए, पुस्तकीय सामग्री और कम्यूनिकेशन उपकरणों के उपयोग के तरीकों से परिचित हो। छात्रों में सबके साझे कार्यो में शिरकत की भावना पैसदा करे, सामाजिक शिरकत और पहल कदमी के लिए प्ररित करे। साथ ही छात्रों में समाज के प्रति सही दृष्टिकोण पैदा करे। हम यह ध्यान रखें कि शिक्षक के आचार – व्यवहार का छात्रों की सक्रियता पर असर पड़ता है।

उत्तर प्रदेश के प्राथमिक विद्यालयों में तैनात शिक्षामित्रों की नियुक्ति रद्द करने संबंधी इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एक फैसले से देश में बच्चों की शिक्षा को लेकर राजनेताओं की मंशा पर सवाल पैदा हुआ है। मुद्दा उत्तर प्रदेश में यह था कि मायावती की सरकार ने 1999 में शिक्षकों की

नियुक्ति संविदा के आधार पर की। ये शिक्षक पंचायत शिक्षामित्र कहलाए। इनके लिए वांछित न्यूनतम योग्यता पूर्णकालिक शिक्षकों के लिए निर्धारित योग्यता से कहीं कम रखी गई थी। हालांकि सच्चाई यह भी थी कि उत्तर प्रदेश के स्कूलों में बच्चों की बढ़ती आबादी के लिए पूर्णकालिक शिक्षकों की बहाली कर सकना सरकार की आर्थिक क्षमता से कहीं बाहर था, और बेरोजगारी का आलम ऐसा था कि शिक्षित बेरोजगार किसी भी कीमत पर कोई भी नौकरी करने के लिए तैयार थे। रोजगार की उनकी मजबूरी ही गरीब बच्चों के लिए शिक्षा का एकमात्र अवसर बन पाई। वर्ष *2012* में राज्य में समाजवादी पार्टी की सरकार अनुबंध नियुक्तियों को नियमित करने का भरपूर वायदा दिलाती हुई आई। लिहाजा *2014* में शिक्षा विभाग के कुछ नियमों को बदलकर एक सरकारी फरमान के जरिये अनुबंध पर नियुक्त पंचायत शिक्षामित्रों को सहायक शिक्षक का दर्जा दे दिया गया। यानी दोयम दर्जे की नियुक्तियों को पिछले दरवाजे से पदोन्नति दे दी गई।

उल्लेखनीय है कि पूर्णकालिक शिक्षकों के लिए केंद्र सरकार ने स्पष्ट मापदंड तय किए हुए हैं। मगर पंचायत शिक्षामित्र यानी संविदा नियुक्ति शिक्षा की पूरी व्यवस्था पर एक काला साया बनकर मंडरा रही है। और यह सिर्फ उत्तर प्रदेश तक ही सीमित नहीं है। अर्द्ध-शिक्षकों या शिक्षकों में संविदा नियुक्ति का यदि इतिहास देखा जाए, तो *1990* में संस्थागत समायोजन की नीतियों के आने के बाद से ही संविदा नियुक्ति पर बल दिया जाने लगा। बीमारू राज्यों (बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश) में, जहां शैक्षणिक संकट गहरा माना जाता था, मध्य प्रदेश ने सर्वप्रथम संविदा नियुक्ति का मार्ग अपनाया। जबकि दक्षिण के किसी भी राज्य ने ऐसा नहीं किया। यहां तक कि आंध्र प्रदेश ने भी नहीं, जहां विश्व बैंक की नीतियों और सुझावों का चंद्रबाबू नायडू के दौर में खूब बोलबाला रहा। आंध्र प्रदेश में विद्या वॉलंटियर्स की नियुक्ति केवल खानापूर्ति के लिए की गई। वहां नियमित रूप से शिक्षकों की नियुक्ति विधि में स्थापित नियमों के अनुसार की जाती रही।

सवाल यहां यह है कि आखिर उत्तर के राज्यों में ही संविदा नियुक्तियों का बोलबाला क्यों रहा। इसकी कुछ वजहें हो सकती हैं। मसलन, बिहार और उत्तर प्रदेश में बच्चों की जनसंख्या का दबाव बहुत रहा, मगर उससे भी महत्वपूर्ण कारक यह रहा कि इन राज्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। उद्योग और रोजगार के बढ़ने के आसार नहीं दिखते थे। यानी बीमारू राज्यों की वित्तीय स्थिति अच्छी नहीं थी। ऐसे में बेरोजगारी के आतंक का दुरुपयोग करने की राजनीतिक मंशा बन गई। यहां तक कि बिहार में नीतीश कुमार की सरकार ने *2007.08* में जब नियुक्तियों का द्वार खोला, तो ढाई लाख संविदा नियुक्तियों के लिए आठ लाख के करीब आवेदन आए, और उन नियुक्तियों में जमकर घोटाला हुआ। नतीजतन उस राज्य में भी संविदा नियुक्ति के नाम पर ऐसी फर्जी नियुक्तियां हुई हैं कि शिक्षक ककहरा के आगे कुछ नहीं जानते।

ठीक ऐसा ही हाल उत्तर प्रदेश का रहा। संविदा के नाम पर शिक्षण की योग्यता न रखने वाले लोगों को भी शिक्षा व्यवस्था में ठूंस दिया गया। और नौकरियों का नियमितिकरण एक राजनीतिक मांग बनकर उभर आया। स्पष्ट है कि बच्चों के नाम पर राजनेता अपने राजनीतिक हित साधने में ज्यादा लगे हुए हैं। उत्तर प्रदेश में एक बार बसपा ने दोयम दर्जे की इन नियुक्तियों की फसल काटीए तो दूसरी बार सपा ने उसी फसल पर अपनी भी किस्मत आजमाई। इस तरह चुनाव में जो जीता अथवा जो हाराए सभी ने फसल इन्हीं शिक्षकों के नाम पर काटी। मगर यह देखने की किसी ने चेष्टा नहीं की कि आखिर संविदा के आधार पर नियुक्त शिक्षकों का स्तर क्या था। अगर उनमें जरूरी योग्यता नहीं थीए तो क्या उन्हें प्रशिक्षण देकर योग्य बनाया जा सकता थाः या फिर शैक्षणिक निपुणता हासिल करने के लिए संविदा नियुक्ति के दौरान ही शिक्षकों को अवसर मुहैया नहीं कराया जाना चाहिए थाः ऐसा करने के बजाय इन शिक्षकों को सहायक शिक्षक का दर्जा दे दिया गया। यानी इनके साथ भी खूब राजनीति की गई।

दुखद है कि शिक्षा जैसी व्यवस्था में भीए जिसमें सरकार का निर्धारित कार्य लोकहित का निष्पादन करना हैए ऐसी गंदी राजनीति अपने देश में होती हैए जहां लोकतंत्र अपेक्षाकृत जीवंत है। यह राजनीति उन बच्चों के साथ हो रही हैए जो अपने हित की बात नहीं कर सकते। एक तरफ गरीब घरों के मासूम बच्चेए जिनके लिए सरकारी स्कूल शिक्षा पाने का इकलौता अवसर हैए सरकार और उसकी नीतियों की गिरफ्त में हैंए तो दूसरी तरफ संविदा पर नियुक्त अधिकांश शिक्षक वास्तव में शिक्षित बेरोजगार हैं। गरीब इलाकों के इन शिक्षित बेरोजगारों से कमजोर तबका शायद ही देश का कोई श्रमिक वर्ग होगा। जबकि राजनेता उन्हें अपनी गिरफ्त में करके अपनी सियासी रोटियां सेंक रहे हैं।

यह सुशासन का आखिर कौन-सा मॉडल हैः देश के चिंतक और लेखक इन मुद्दों पर मौन क्यों हैंः स्कूली शिक्षा के अधिकार की रट लगाने वाले एनजीओ या सिविल सोसाइटी के दल राजनेताओं को इन मुद्दों पर धिक्कारते क्यों नहींः हमें समझना होगा कि न्यायालय कहीं-न-कहीं नियमों के परिपालन का सिर्फ आदेश ही देगाए समाज रचना का कार्यए खासकर बच्चों का भविष्य बनाने का कार्यए समाज का ही है। और अगर इसमें राजनेता और राजनीतिक दल भी चूकते हैंए तो टिप्पणी करते हुए हमें चूकना नहीं चाहिए। भारतीय लोकतंत्र की यदि सबसे बड़ी चूक देखी जाएए तो वह बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में सरकारी शिक्षा की अनदेखी करना है। ऐसे में एक स्पष्ट नजरिये की जरूरत हैए नीतियां तो बन ही जाएंगी।

भारत में शिक्षा का अधिकार कानून एक अप्रैल *2010* से लागू किया गया। इसे सात साल पूरे हो गए हैं। इसके तहत *6.14* साल तक की उम्र के बच्चों को अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा का प्रावधान किया गया है। शिक्षा की

स्थिति खराब होने का एक कारण शिक्षा में बहुत गहरे तक घुसी हुई राजनीति भी है। हर फैसले में राजनीति होती है। जहां राजनीति नहीं होतीए वहां बाकी नीतियां होती हैं। कभी आठवीं तक फेल नहीं करने की नीति लागू होती है तो कभी उसे हटा दिया जाता हैए ऐसे ही निर्णय पाठ्यक्रम को लेकर लागू किये जाते हैंए आखिर कब तक शिक्षा जैसे बुनियादी विषयों पर राजनीति होती रहेगीः अगर सरकारी स्कूलों में पढ़ाई का स्तर ऊपर उठाना है तो उसके लिए सबसे पहले मानव संसाधन मंत्रालय को स्वयं शिक्षा के प्रति अपना नजरिया बदलना चाहिए। इसके बाद शिक्षकों का बदलते दौर के साथ शिक्षा के प्रति अपना नजरिया दुरुस्त करने की सलाह देनी चाहिए। शिक्षा से संबंधित बड़े फैसलों में शिक्षकों के विचारों को जगह देनी चाहिएए यहां शिक्षकों का मतलब शिक्षकों की राजनीति से जुड़ी इकाइयां बिल्कुल नहीं है।

सरकारी स्कूलों की लगातार गिर रही साख एक गंभीर चिन्ता का विषय है। भूमंडलीकरण के दौर में शिक्षा के नवीन एवं लीक से हटकर प्रयोग हो रहे हैंए ऐसे चुनौतीपूर्ण समय में भारत में सरकारी स्कूलों का भविष्य क्या होगाः यह एक अहम् सवाल है। यह सवाल इसलिए भी महत्वपूर्ण हो रहा है कि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी एक नया भारत बनाने एवं राष्ट्र की मूलभूत विसंगतियों को दूर करने में जुटे हैं। क्या कारण है कि शिक्षा जैसे बुनियादी प्रश्नों पर अभी भी ठोस कदम नहीं उठाये जा रहे हैं। हाल ही में मानव संसाधन मंत्रालय ने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को लेकर कुछ बड़े कदम उठाते हुए निर्णय लिए हैंए जिनके सकारात्मक परिणाम सामने आने चाहिए। लेकिन प्रश्न जितने बड़े हंैए समस्या जितनी गंभीर हैए उसे देखते हुए व्यापक एवं लगातार प्रयत्नों की अपेक्षा है।

मानव संसाधन मंत्रालय ने सभी राज्य सरकारों से कहा है कि शिक्षकों को जनगणनाए चुनाव या आपदा राहत कार्यों को छोड़कर अन्य किसी भी ड्यूटी पर न लगाया जाए। सरकार ने शिक्षा का अधिकार अधिनियम-*2009* में संशोधन करते हुए शिक्षकों की ट्रेनिंग अवधि मार्च *2019* तक बढ़ा दी है। *2010* में यह कानून लागू हुआ था तो देश भर में करीब साढ़े चौदह लाख शिक्षकों की भर्ती की गई थी। इनमें बहुतों के पास न तो बच्चों को पढ़ाने के लिए कोई डिग्री थीए न प्रशिक्षण। इनकी ट्रेनिंग का काम *31* मार्च *2015* तक पूरा होना थाए जो नहीं हो पाया तो अब अधिनियम में संशोधन करना पड़ा है।

14 साल तक के सभी बच्चों को गुणवत्तापरक शिक्षा मिलेए इसके लिए इस संशोधन का स्वागत होना चाहिएए लेकिन सरकारी स्कूलों की बीमार हालत को देखते हुए ऐसे फैसलों को लेकर ज्यादा उत्साहित नहीं हुआ जा सकता। क्योंकि बहुत से सरकारी स्कूल ऐसे हैं जहां पर्याप्त शिक्षक नहीं हंै। एक या दो शिक्षकों के ऊपर *100* से ज्यादा बच्चों को पढ़ाने की

जिम्मेदारी है। वर्तमान में सतत एवं व्यापक मूल्यांकन की बात हो रही है, लेकिन लंबे-लंबे प्रशिक्षण सत्रों के बीच सतत पढ़ाई के सिलसिले की सांस उखड़ रही है, शिक्षक करीब एक महीने तक विभिन्न ट्रेनिंग सत्रों का हिस्सा होने के कारण स्कूल से बाहर होते हैं। शिक्षकों को गैर-शैक्षणिक कामों में लगाने और शिक्षा के गिरते हुए स्तर के लिए उनको ही जिम्मेदार ठहराने की कोशिशें साथ-साथ जारी हैं। इन स्थितियों में बदलाव की आवश्यकता है।

सबसे अहम सवाल है कि सरकारी स्कूलों को प्राइवेट स्कूलों से प्रतिस्पर्धा करने में सक्षम बनाना होगा। इसके लिये साधनों के साथ-साथ सोच को विकसित करना होगा। कोरा शिक्षकों को प्रशिक्षित करने से क्या फायदा यदि इन स्कूलों में बच्चे ही नहीं आते हों। दोहरी शिक्षा व्यवस्था ने अभिभावकों के मन में यह बात बिठा दी है कि बच्चे को पढ़ाना है तो उसे इंग्लिश मीडियम स्कूल में भेजा जाए। हालांकि ऐसे स्कूलों के लिए भी कोई मानक नहीं है और इनमें ज्यादातर का हाल सरकारी स्कूलों जैसा ही है। जाहिर है, समस्या सिर्फ शिक्षकों की ट्रेनिंग से नहीं जुड़ी है। समस्या है सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता बढ़ाने की, उनको प्रतिष्ठित करने की। इस समस्या से उबरने के लिए नीति आयोग के सीईओ अमिताभ कांत ने शिक्षा को प्राइवेट हाथों में सौंप देने का सुझाव दिया है, लेकिन यह समस्या का समाधान नहीं है। बल्कि उसके अपने खतरे हैं। प्राइवेट स्कूलों की वकालत करने की बजाय सरकारी स्कूलों को प्राइवेट जैसा बनाने की आवश्यकता है।

पिछले कुछ सालों में सरकारी स्कूलों में जिस तेजी के साथ कागजी काम बढ़ रहा है, उससे स्कूल एक ष्डेटा कलेक्शन एजेंसीश के रूप में काम करते नजर आते हैं। अभी बहुत से शिक्षकों का शिक्षण कार्य कराने वाला समय आंकड़े जुटाने में या गैर-शैक्षणिक गतिविधियों में इस्तेमाल हो रहा है। स्कूलों का हाल ये है कि शिक्षक योजनाओं की डायरी भर रहे हैं। बच्चे कक्षाओं में खाली बैठे हैं। उनके बस्ते बंद है। वे शिक्षकों का इंतजार कर रहे हैं कि वे क्लासरूम में आएं और पढ़ाएं। उनको कोई काम दें। उनको कुछ बताएं। पिछला पाठ जहां पर छूटा था, वहां से आगे पढ़ाएं।

जबकि शिक्षक व्यवस्था के आदेश की पालना करने में जुटे हैं। वे बच्चों की अपेक्षाओं के अनुरूप काम नहीं कर पा रहे हैं। वे बच्चों को पढ़ाने वाली योजनाओं के ऐसे पन्ने काले-नीले करने में जुटे हैं जो कक्षाओं में कभी लागू नहीं हो सकतीं। इसके अनेकों कारण हैं, समय की

कमी। क्षमताओं का अभाव। कागजी काम का दबाव। जो शिक्षकों को अपने काम से विमुख कर रहे हैं। उन पर तरह-तरह के दबाव है। कभी जनगणना तो कभी चुनाव, कभी मेराथन तो कभी नेताजी का भाषण- शिक्षकों की स्थिति 'सरकारी आदेश' से बंधे हुए उस गुलाम की तरह है, जिसके मन में कहने के लिए बहुत कुछ है मगर वह खामोश है। क्योंकि उसके पास सरकारी आदेश की प्रति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार सरकारी स्कूलों की दशा और दिशा को सुधारने की बजाय इसे एक बला के रूप में देख रही है। ऐसी जमीनी स्थिति को देखते हुए लगता है मानो सरकारी स्कूलों के निजीकरण की कहानी का 'प्रारंभिक अध्याय' लिखने का काम शुरू हो गया है। केंद्रीय स्तर पर शिक्षा के बजट में होने वाली कटौती को भी एक संकेत के बतौर देखा जा रहा है। कुछ राज्यों में सरकारी स्कूलों को पीपीपी मॉडल के रूप में संचालित करने के प्रयोग भी हो रहे हंै। भारत में एक दौर था, जब बहुत से निजी स्कूलों को आरटीई का डर था और उनके ऊपर दबाव था कि इस कानून के आने के बाद उनको अपनी स्थिति बेहतर करनी होगी। या फिर स्कूल बंद करने होंगे। मगर अभी तो पूरी परिस्थिति पर सिस्टम यू-टर्न लेता हुआ दिख रहा है। स्थितियां निजी स्कूलों के पक्ष में जाती हुई नजर आती हैं।

भारत में शिक्षा का अधिकार कानून एक अप्रैल *2010* से लागू किया गया। इसे सात साल पूरे हो गए हैं। इसके तहत *6.14* साल तक की उम्र के बच्चों को अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा का प्रावधान किया गया है। शिक्षा की स्थिति खराब होने का एक कारण शिक्षा में बहुत गहरे तक घुसी हुई राजनीति भी है। हर फैसले में राजनीति होती है। जहां राजनीति नहीं होती, वहां बाकी नीतियां होती हैं। कभी आठवीं तक फेल नहीं करने की नीति लागू होती है तो कभी उसे हटा दिया जाता है, ऐसे ही निर्णय पाठ्यक्रम को लेकर लागू किये जाते हैं, आखिर कब तक शिक्षा जैसे बुनियादी विषयों पर राजनीति होती रहेगी? अगर सरकारी स्कूलों में पढ़ाई का स्तर ऊपर उठाना है तो उसके लिए सबसे पहले मानव संसाधन मंत्रालय को स्वयं शिक्षा के प्रति अपना नजरिया बदलना चाहिए। इसके बाद शिक्षकों का बदलते दौर के साथ शिक्षा के प्रति अपना नजरिया दुरुस्त करने की सलाह देनी चाहिए। शिक्षा से संबंधित बड़े

फैसलों में शिक्षकों के विचारों को जगह देनी चाहिए। यहां शिक्षकों का मतलब शिक्षकों की राजनीति से जुड़ी इकाइयां बिल्कुल नहीं है।

सुखी परिवार फाउण्डेशन का एकलव्य मॉडल आवासीय स्कूल पिछले आठ-नौ वर्षों से गुजरात के आदिवासी गांवों के होनहार आदिवासी बच्चों को शिक्षा दे रहा है। ये बच्चे गरीबी रेखा के नीचे वाले घरों से हैं। इन स्कूली बच्चों का रिजल्ट तो कमाल का है ही। विभिन्न खेलकूद। सांस्कृतिक एवं अन्य गतिविधियों में भी इन बच्चों ने जो प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। उसे एक उदाहरण के रूप में सरकारी स्कूलों को लेना चाहिए। यदि हम आजादी के सात दशकों के बाद भी सरकारी स्कूलों को सक्षम नहीं बना पा रहे हैं तो यह हमारी कमी को ही दर्शाता है। संस्कृति और मूल्यों की गौरवमयी विरासत को बचाने एवं स्वर्णिम भारत को निर्मित करने के लिये आवश्यक है कि शिक्षा के अधूरेपन को दूर किया जाये। इस हेतु हम दीर्घकालीन राष्ट्रीय शिक्षा नीति की संभावनाओं को तलाशें और बिना राजनैतिक हस्तक्षेप के लागू करें ताकि योजना आयोग को सरकारी स्कूलों को प्राइवेट क्षेत्र में देने का सुझाव न देना पड़े।

संदर्भ ग्रंथ

1. हिन्दुस्तान, पत्रिका
2. नई दुनिया, देश वन्धु
3. दैनिक जागरण, टाइम्स ऑफ इंडिया
4. राज एक्प्रैस, द हिन्दु
5. नव भारत, जनसत्ता
6. दैनिक भास्कर, आचरण,
7. टाइम्स ऑफ इंडिया (नई दिल्ली) मई –जून 2015
8. ग्रामीण विकास समीक्षा– हैदराबाद प्रकाशन